



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, पात्रता के लक्षण सम्बन्धित
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के
चयन किये गये वचनामृत

प्रश्न :- प्रथम पात्रता का क्या स्वरूप है?

उत्तर :- अपने द्रव्य में दृष्टि को तादात्म्य करना, प्रसारना। बाह्य में तादात्म्य कर रही दृष्टि को अपने में तादात्म्य करना, यह प्रथम पात्रता

है। २०.

योग्यता हो तो सुनते ही सीधे अंदर में उतर जाते हैं, इसलिये कहते हैं कि 'ऐसी उनकी काललब्धि'। तो अज्ञानी कहता है कि अरे, पुरुषार्थ को उड़ा दिया। पर, अरे भाई! पुरुषार्थ इससे जुदा थोड़े ही है! कोई स्वच्छंद न कर लेवे, इसलिए पुरुषार्थ करना ऐसा कहा है। त्रिकाली में अपनापन होने में पुरुषार्थ होता ही है। लेकिन यह (ऐसा पुरुषार्थ कि) पर्याय जितना मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रिकाली दल ही हूँ। ११३.

योग्यता और पात्रता ठीक (उत्कृष्ट) होवे तो एक ही क्षण में काम हो जाये, ऐसी बात है। १८३.

बात सुनते ही चोट लगनी—यह भी एक पात्रता है। ४२१.

मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ—ऐसा सुनते ही, कुछ करना-कराना है ही नहीं—ऐसा उल्लास तो प्रथम से ही आना चाहिए, और फिक्कर उसी की पूर्ति के लिए प्रयास करना है। ४२७.

अपने से अपनी पात्रता मालूम हो जाती है, दूसरा कहे, न कहे—इससे मतलब नहीं है। द्रव्य स्वतंत्र है न! इसको पर की अपेक्षा ही नहीं है। ४७६.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२८७, वर्ष-२४, नवम्बर-२०२१

आषाढ कृष्ण ११, गुरुवार, दि. १४-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८६, प्रवचन-३४

‘योगीन्द्रदेव’ मुनि दिगम्बर आचार्य हुए हैं। छठवीं शताब्दी - १३००-१४०० वर्ष पहले हुए, उन्होंने योगसार बनाया। योगीन्द्रदेव ८६वीं गाथा में कहते हैं, एक आत्मा का मनन करो। देखो!

एककलउ इन्द्रिय-रहियउ-मण-वय-काय-
ति-सुद्धि।

अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-
सिद्धि॥ ८६॥

यह शब्द पड़ा है। हे भाई! तू अकेले आत्मा को देख! इन्द्रिय से रहित, कर्म, शरीर के सम्बन्ध से रहित...। भगवान आत्मा में परमार्थदृष्टि से शरीर, कर्म और विकार के सम्बन्धरहित आत्मा अकेला है। ऐसा इन्द्रिय से रहित मण वय काय ति सुद्धि और मन -वचन-काया से भी हटकर अपनी शुद्धि अपने स्वभाव के सन्मुख करके, अपना ध्यान करना, उसका नाम मोक्ष का मार्ग योगसार है। मुनि को तो उत्कृष्ट होता है। यह कल आ गया है, कि लज्जा का भाव हृदय में से न मिटे, तब तक इस ऊँचे पद का ग्रहण नहीं करना। ऐसा आया था।

श्रावक पद में रहकर एकदेश आत्मध्यान का साधन करना। अपने को इस शब्द पर थोड़ा

लेना है। गृहस्थाश्रम में भी श्रावक है तो एकदेश आत्मध्यान का साधन कर सकता है। समझ में आया? नियमसार में ‘समाधि अधिकार’ के बाद ‘भक्ति अधिकार’ आयेगा। यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पहले श्लोक में मूल पाठ है। श्रावक हो या मुनि हो, निश्चयशुद्धरत्नत्रय की भक्ति दोनों करते हैं - ऐसा पाठ भक्ति अधिकार में मूल गाथा में है। श्रावक हो या मुनि हो, शुद्धरत्नत्रय की भक्ति - ऐसा पाठ है। टीका में मूल पाठ में इतना है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। यह निश्चयरत्नत्रय की बात है।

मुमुक्षु :

उत्तर : अपने स्वरूप की एकाग्रता वह भक्ति है, भगवान की भक्ति, वह शुभराग है, व्यवहारभक्ति है।

यहाँ तो दूसरा कहना है कि श्रावक को भी अपने शुद्धनिश्चयरत्नत्रय का ध्यान होता है और प्रगट दशा होती है। कोई कहे कि मुनि को ही सातवें गुणस्थान में शुद्धरत्नत्रय होता है, अभी सातवें में भी नहीं लेते। यहाँ तो कहते हैं कि श्रावक को भी, समझ में आया? देखो, इसमें है। १३४ गाथा है न! भक्ति अधिकार - सम्मत्तणाणचरणे जो भक्ति कुणइ सावगो समणो। सावगो समणो - ऐसा पाठ है। सम्मत्तणाणचरणे जो भक्ति

कुण्ड सावगो समणो। सावगो समणो ऐसा पाठ है। सम्मत्तणाणचरणे जो भक्ति कुण्ड सावगो समणो। तस्स दु णिव्वुदिभत्ती.... निवृत्ति भक्ति। होदि ति जिणेहि पण्णत्तं॥

१३४॥ भगवान परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं, श्रावक और मुनि दोनों को निश्चयशुद्धरत्नत्रय अपना भगवान आत्मा शुद्ध निर्मल-निर्विकल्प दृष्टि से अपनी प्रतीति करना और स्वसंवेदन - अपना ज्ञानस्वरूप भगवान, उसका ज्ञान से स्वसंवेदन करके ज्ञान करना

और अपने स्वरूप में शुद्ध उपयोगरूप अथवा शुद्धपरिणतिरूप आचरण करना, उसका नाम निश्चयरत्नत्रय कहते हैं। आहा...हा...! यहाँ श्रावक को कहते हैं। देखो! टीका में भी ऐसा लिया है।

निज परमतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्धरत्नत्रय परिणामों का जो भजन, वह भक्ति है... श्रावक भी कर सकता है और मुनि भी; श्रावक और परम तपोधन दोनों रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। जिनवरों ने ऐसा कहा है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। यहाँ से निश्चयरत्नत्रय की बात है, उसे शुद्धरत्नत्रय कहते हैं। व्यवहाररत्नत्रय को अशुद्धरत्नत्रय कहो, बाह्यरत्नत्रय कहो, उपचरितरत्नत्रय कहो। परम अपेक्षा से उसे असत्यार्थ भी कहो। व्यवहार असत्यार्थ... असत्यार्थ का अर्थ उसे गौण करके, है नहीं - ऐसा नहीं, व्यवहार है अवश्य परन्तु उसे गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कह दिया है।

भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द प्रभु है। उसकी अन्तर में अनुभव दृष्टि करना, अनुभव करके दृष्टि होना और स्वरूप में स्थिरता होना - ऐसी

निश्चयशुद्धरत्नत्रय की भक्ति एकदेश में श्रावक को भी होती है। समझ में आया? श्रावक अर्थात् महापञ्चम गुणस्थानदशा। जिसे सर्वार्थसिद्धि के चौथे गुणस्थानवाले से जिसकी शान्ति बढ़ गयी है।

आहा...हा...! भले स्त्री, कुटुम्ब में पड़ा हो, राज्य में पड़ा हो, विषयभोग की वासना भी हो परन्तु उसकी वासना में मर्यादा है। अपना आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्दमय प्रभु आत्मा के अन्तर में स्वसन्मुख होकर निश्चयशुद्धसम्यग्दर्शन प्रगट

हुआ है। कोई कहता है कि शुद्ध निश्चय समकित चौथे पाँचवें में नहीं होता... भाई! तुझे समझ नहीं है, व्यवहार तो उपचार है। निश्चय स्वआश्रित उत्पन्न हो, उसे शुद्धरत्नत्रय कहते हैं। आहा...हा...! क्या करे? सब बदल गया, सब बदल गया। व्यवहाररत्नत्रय चौथे से सातवें तक व्यवहाररत्नत्रय। एक व्यक्ति फिर बारहवें तक कहता है, भाई!

यहाँ तो भगवान... वस्तु का स्वरूप... आत्मा परमानन्द की मूर्ति, परमात्मस्वरूप की अन्तर निश्चय-स्व आश्रय दृष्टि होना, स्व आश्रय दृष्टि हुई, उसका नाम निश्चय। पराश्रय दृष्टि भगवान की श्रद्धा आदि करना, वह पराश्रित दृष्टि व्यवहार है। अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान करना, स्व-संवेदन (करना), वह निश्चय। शास्त्र आदि का ज्ञान करना, वह पराश्रित व्यवहार है। अपने स्वरूप में शुद्धस्वरूप की दृष्टि ज्ञानपूर्वक स्व में लीन होना, वह चारित्र है, निश्चयचारित्र है। श्रावक को भी निश्चयचारित्र का अंश होता है। कहो, समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! कोई ऐसा कहता है - श्रावक को पञ्चम गुणस्थान में



शुद्ध उपयोग नहीं है, शुद्ध निश्चयरत्नत्रय नहीं है। निश्चयरत्नत्रय आठवें और दसवें... फिर कोई एक तो तेरहवें में कहता है। एक 'शरनाराम है' वह तो फिर तेरहवें में निश्चय (होता है और) बारहवें तक व्यवहार (होता है - ऐसा कहता है)।

मुमुक्षु : कोई फिर पन्द्रहवें में कहे ?

उत्तर : पन्द्रहवाँ है ही नहीं तो क्या कहेगा ? पन्द्रह गुणस्थान ही नहीं है।

यहाँ तो अपने को शुद्धरत्नत्रय की भक्ति एकदेश श्रावक को भी होती है (- ऐसा कहना है) भले ही स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, राजपाठ में पड़ा हो... समझ में आया ? पड़ा नहीं... अपना आत्मा शुद्ध भगवान आत्मा परमात्मा निर्विकल्प स्वभाव से सम्पन्न प्रभु अनादि-अनन्त - ऐसी अन्तर में निश्चयदृष्टि स्वभाव के आश्रय से हुई, वह तो आत्मा में ही पड़ा है। समझ में आया ? श्रावक भी अपने ज्ञान में रहता है, स्थिरता में रहता है। व्यवहाररत्नत्रय से भी मुक्त है। अद्भुत बात, भाई! समझ में आया ?

भगवान... इसलिए श्रावकपद में रहकर एकदेश आत्मज्ञान का साधन करना... समझ में आया ? न हो सके - ऐसा नहीं है, भाई! चौथे गुणस्थान में भी जहाँ आत्मा मुक्तस्वरूप का भान होता है और निर्विकल्प प्रतीति होती है तो पञ्चम गुणस्थान में तो श्रावक को तो शान्ति दूसरी कषाय के अभाव से शान्ति... शान्ति... बढ गयी है। समझ में आया ? ऐसी शान्ति जो स्वभाव के आश्रय से (उत्पन्न) हुई, उसे यहाँ देश रत्नत्रय, शुद्ध रत्नत्रय कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

निर्वाण का साक्षात् उपाय निर्ग्रन्थपद ही है। ओहो...हो...! अलौकिक बात! अन्तर में तीन कषाय का अभाव, निर्ग्रन्थ भाव, द्रव्यलिङ्ग भी निर्ग्रन्थ, बाह्य में भी नग्नदशा; बाह्य और अभ्यन्तर दोनों

निर्ग्रन्थदशा... वह निर्ग्रन्थदशा ही साक्षात् मोक्ष का कारण है, उपाय है। कहो, समझ में आया ? परन्तु कहते हैं कि यदि ऐसी चीज न हो सके (तो वहाँ तक एक देश आत्मध्यान का साधन करना)। समझ में आया ?

जब तक इन्द्रियों के विषयों की लालसा न छूटे... सम्यग्दर्शन होने पर भी, इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि न होने पर भी... समझ में आया ? भाषा नहीं, इसके भाव समझ लेना। यहाँ तो कहते हैं, अपने स्वभाव में आनन्द है - ऐसी सम्यग्दृष्टि को रुचि हुई होने पर भी इन्द्रिय के सुख में सुख नहीं - ऐसी मान्यता होने पर भी आसक्ति रहती है। आसक्ति, वह चारित्र का दोष है और इन्द्रियों में सुख है यह मिथ्यात्व का दोष है। आहा...हा...! समझ में आया ? अपने स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द है, राग में और पर में तीन काल में सुख नहीं है - ऐसी अतीन्द्रिय आनन्द की सुखबुद्धि होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। सुखबुद्धि नहीं परन्तु आसक्ति, लालसा न छूटे - ऐसा इसमें लिया है न! जो शब्द हो उस प्रकार से (कहते हैं) लालसा, जरा आसक्ति, वृत्ति नहीं छूटती। पञ्चम गुणस्थान में सुखबुद्धि नहीं होने पर भी, सुखबुद्धि तो तीन काल में नहीं है। सम्यग्दृष्टि को तीन काल-तीन लोक में कोई सर्वार्थसिद्धि के देव में भी सुखबुद्धि नहीं है। ओहो...हो...! जहाँ सुख है, वहाँ सुखबुद्धि होगी या जहाँ सुख नहीं है, वहाँ सुखबुद्धि होगी ? अपना आनन्द तो अपने में है। अपना आनन्द क्या पुण्य-पाप के भाव में है ? शरीर में है, इन्द्रिय में है ?

धर्मी को पहली नजर में अपना आनन्द अपने में है, पुण्य-पाप में आनन्द नहीं है - (ऐसी दृष्टि हो गयी है)। व्यवहाररत्नत्रय का शुभ उपयोगरूप राग होता है, उसमें आनन्द नहीं है और उसके फल में आनन्द नहीं है - ऐसी दृष्टि हुई होने पर भी, लालसा न छूटे... जरा

आसक्ति अन्दर से न छूटे, वहाँ तक घर में स्त्री सहित रहकर भी यथाशक्ति आत्मा का मनन करना... समझ में आया? ऐसा नहीं है कि अपनी शक्ति तो है नहीं और सब छोड़कर बैठ जाये और अन्दर में दशा तो है नहीं, फिर हठ हो जाये, परीषह सहन करने की जो ताकत अन्दर होनी चाहिए वह तो हुई नहीं, फिर हठ हो जाये, भार... भार... भार... बोझा... बोझा... (लगे) कहते हैं, स्त्रीसहित रहकर... ऐसा... समझ में आया? आहा...हा...!

एक बार तो 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने' 'मूलाचार' में ऐसा भी कहा है कि हे जीव! तेरे स्वरूप की दृष्टि में सम्यग्दर्शन हुआ और तुझे सम्यग्दर्शन में दोष न लगे, इसके लिए जिसकी मिथ्याश्रद्धा है और मिथ्याश्रद्धा की बात करता है - ऐसे साधु का संग नहीं करना। पण्डितजी! ऐसा मूलाचार में श्लोक है। (उसका संग) नहीं करना, उसकी अपेक्षा तो विवाह कर लेना - ऐसा पाठ है। विवाह कर लेना, स्त्री। स्त्री करने का कहते हैं? यह तो (ऐसा कहते हैं कि) स्त्री का दोष है, वह चारित्र का दोष है परन्तु यदि तू मिथ्याश्रद्धावन्त के संग में जाएगा और तेरी मिथ्याश्रद्धा हो गयी तो (सम्यग्दर्शन से) भ्रष्ट हो जाएगा - ऐसा मूलाचार में श्लोक है। मूल गाथा है, कितनी है वह? सब कहाँ याद होता है? भाव ख्याल में होता है... ऐसी कहीं बुद्धि नहीं है कि इस जगह यह गाथा है, इस जगह यह श्लोक है। भाव का ख्याल है, भाव। समझ में आया? आहा...हा...! अरे... परन्तु सन्त ऐसा कहते हैं? भाई! विवाह करने का कहते हैं? ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। पाठ तो ऐसा है, लाओ न पाठ, देखो, पाठ ऐसा है, विवाह करना, विवाह करने का कहते हैं?

मुमुक्षु : लिखा है न।

उत्तर : लिखा (भले हो), उसका अर्थ समझना चाहिए। यह तो कहते हैं... स्पष्टीकरण कराते हैं।

पण्डितजी! यह ऐसा कि लिखा तो ऐसा है, विवाह करना। मुनि को नव कोटि से त्याग है। विषय का नव कोटि से (त्याग है)। मन, वचन, काय, कृत-कारित अनुमोदन से त्याग है। करे नहीं, कराये नहीं और कर्ता का अनुमोदन करे नहीं। मिथ्यात्व का पाप मिटाने को वह बात की है। उसमें आया है ४९२ पृष्ठ पर, यह रहा, छियानवेंवाँ श्लोक है, अधिकार का नाम नहीं, नाम कुछ नहीं... (दशवाँ अधिकार है)।

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।

विवाहे रागउप्पत्ति गणो दोसाणागरो।। ९६।।

आचार्य ऐसा कहते हैं, भाई! मिथ्याश्रद्धा का दोष बड़ा है, महापाप ही यह है, चारित्रदोष का पाप अल्प है। लोगों को मिथ्याश्रद्धा के पाप और सम्यग्दर्शन का धर्म इन दोनों की कीमत नहीं है। इसलिए कहते हैं कि भाई! यति! अन्त समय में यदि गुण में प्रवेश करेंगे तो शिष्यादिकों में मोह उत्पन्न होगा तथा मुनिकुल में मोह उत्पन्न होने के लिए कारणभूत ऐसे पार्श्वस्थादिक पाँच मुनियों से सम्पर्क होगा। उनके सम्पर्क की अपेक्षा से विवाह में प्रवेश करना अर्थात् गृह में प्रवेश करना अधिक अच्छा है क्योंकि विवाह में स्त्री आदिक परिग्रहों का ग्रहण होता है और उससे रागोत्पत्ति होती है। परन्तु गण तो... ऐसा होता है, नहीं ऐसा होता है, व्यवहार करते - ~~करते~~ निश्चय होता है - ऐसी

विपरीतता करा देंगे कि तुझे महा मिथ्याश्रद्धा (होकर तू) दर्शन भ्रष्ट हो जाएगा। दर्शनभ्रष्ट नहीं सिद्धांति चारित्त भट्टा सिद्धांति... क्योंकि ख्याल में है। उसमें तो श्रद्धा में ही पता नहीं है, क्या राग? क्या पर चीज है? मैं कौन हूँ? तो कहते हैं कि उसमें प्रवेश कर। वह प्रवेश कराने के लिए नहीं कहते परन्तु जिसकी श्रद्धा विपरीत है - ऐसे साधु का गणसमूह, उसके संसर्ग से भाई! तुझे मिथ्याश्रद्धा हो जाएगी, वह तो कुयुक्ति से

समझायेगा, तेरी सच्ची श्रद्धा भ्रष्ट हो जाएगी। इसकी अपेक्षा तो स्त्री के संग में तुझे चारित्र का दोष लगेगा, श्रद्धा का दोष नहीं लगेगा। समझ में आया? यह बताते हैं। स्त्री में प्रवेश करो, पाठ तो ऐसा है। 'विवाहस्स पवेसणं' मुनि नौ कोटि से त्यागी है परन्तु कैसा अर्थ करना? - वह समझना चाहिए या नहीं? (ऐसा कहते हैं) यह यहाँ लिखा है, व्यवहार में प्रवेश करने का कहते हैं। भाई! उसका आशय क्या है, वह समझना चाहिए न! सन्त मुनि हैं, आहा...हा...! नव-नव कोटि से जिन्हें विषय का त्याग है। ब्रह्म में रङ्ग लगा है, आनन्दकन्द में रङ्ग लग गया है, समझ में आया? कोई विषय करे, कराये, अनुमोदन करे (-ऐसा नहीं होता।) उनके विकल्प में मन, वचन, काया में कृत, कारित अनुमोदन में करना नहीं होता। आहा...हा...! परन्तु वे कहते हैं, भगवान! खराब संग में पड़कर यदि तुझे मिथ्याश्रद्धा हो जाएगी, ऐसी कुयुक्ति, कुतर्क से बैठा देंगे तो तेरी श्रद्धा विपरीत हो जाएगी; इस दोष की तुलना में स्त्री के संग में तो राग का / चारित्र का दोष है।

यह यहाँ कहते हैं लालसा, स्त्री (छोड़) न सके तो गृहस्थाश्रम में रहो (और) यथाशक्ति आत्मा का मनन करना... रहो अर्थात् कोई राग करने का कहते हैं? रहने का नहीं कहते परन्तु कमजोरी है, कमजोरी है, पर में सुखबुद्धि नहीं, तथापि अन्दर आसक्ति का भाव दिखता है तो आसक्ति के परिणाम छूटते नहीं, भाव देखते हैं न? वहाँ तक गृहस्थाश्रम में रहकर अपने स्वरूप का साधन, ध्यान करो। श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता का, निश्चयरत्नत्रय का ध्यान करो। समझ में आया? देखो! स्त्रीसहित रहकर ही यथाशक्ति... यह तो रहकर कहा और वहाँ (मूलाचार में) विवाह में प्रवेश करना एक ही कहा।

जब विषयों की लालसा न रहे... परिणाम

में ऐसा लगे कि अब विषयों की प्रीति छूट गयी है... रुचि तो छूट गयी परन्तु प्रीति, आसक्ति छूट गयी है - ऐसी आसक्ति नहीं है कि स्त्री को छोड़ दिया, इसलिए आसक्ति छूट गयी। अन्तर में उस राग में जरा अन्दर मिठास, आसक्ति आती है। आसक्ति है, हाँ! रुचि नहीं, है तो दुःख; है तो उपसर्ग परन्तु वह आ जाता है। वह लालसा जब तक न छूटे, तब तक गृहस्थाश्रम में रहकर ही अपना ज्ञान-ध्यान, श्रद्धा करो।

मन में से विषय-विकार निकल जाये...

देखो! मन में से (कहा है)। बाहर से तो क्या, स्त्री अनन्त बार छोड़ी, उसमें क्या आया? अन्तर में आनन्द की दृष्टि और आनन्द के मौज में वह आसक्ति छूट जाए तो मुनिपना ले लो और मुनिपना ही साक्षात् मोक्ष का कारण है। चारित्र ही साक्षात् सुख का कारण है। आत्मिकसुख का प्रेम बढ जाये और अभ्यास भी ऐसा हो जाए कि आत्मिक रस के स्वाद बिना दूसरे सब विषयरस के स्वाद फीके लगे... कहीं आसक्ति भी न हो। जिन अथवा जितेन्द्रिय होकर आत्मा का मनन कर सकता है। लो, समझ में आया? फिर बहुत लिया है।

आत्मानुशासन में कहा है : आत्मज्ञानी मुनि को बारम्बार सम्यग्ज्ञान को अन्तर में फैलाकर रखना योग्य है। देखो! मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं। मुहुः मुहुः। अर्थात् बारम्बार।

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भवान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य
ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥ १७७॥

यह श्लोक है, समझ में आया? यह आत्मानुशासन का है। रामसेनाचार्य का है? कैसा? आत्मानुशासन को गुणभद्राचार्यदेव का है। आत्मज्ञानी मुनि को योग्य है कि बारबार सम्यग्ज्ञान को भीतर फैलाकर रखे... देखो कहते हैं भगवान

आत्मा ऐसा चैतन्यज्योति है न, उसकी अन्तरदृष्टि करके, अन्तर में ज्ञान के विकास का अर्थ स्थिरता, आनन्द, शान्ति अर्थात् चारित्र आदि का विकास हो, उस प्रकार से ज्ञान को फैलावे; राग को घटाये और ज्ञान को फैलाये। ज्ञान शब्द से आत्मा, उसकी समस्त शक्तियों का विस्तार करे और राग को घटाये। समझ में आया? मोक्ष का तो ऐसा मार्ग है। निरालम्ब मार्ग है। आहा...हा...! जिसमें व्यवहार का आलम्बन भी निश्चय में नहीं, ऐसा भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में ज्ञान को फैलाओ... आत्मा का विकास करो। जैसे कली है, वह कली खिलती है तो विकास होता है; वैसे भगवान परम पारिणामिक स्वभाव से शक्तिरूप से पड़ा है, उसमें एकाग्र होकर पर्याय में विकास करो, कमल की तरह विकास करो - यह कहते हैं। समझ में आया? ज्ञान को अन्तर में फैलाकर रखना, ज्ञान की एकाग्रता में श्रद्धा भी हुई, चारित्र हुआ, आनन्द भी हुआ, स्थिरता-शान्ति भी हुई, स्वच्छता भी हुई। राग को घटाओ।

पदार्थों को जैसा है वैसा देखना... जैसा वस्तु का स्वरूप है, ऐसा देखने से राग-द्वेष न करके समताभाव से आत्मा का ध्यान करना। भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, उसका ध्यान करो। वह

ध्यान ही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? 'दुविहं पि मोक्खहेउं ज्ञाणे पाउणदि' यह आता है न? पण्डितजी! द्रव्यसंग्रह... द्रव्यसंग्रह ४७ गाथा। 'दुविहं पि मोक्खहेउं ज्ञाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।' अन्तर। अन्तरध्यानस्वरूप.... देखो! 'दुविहं पि मोक्खहेउं' निश्चय और व्यवहार दोनों 'ज्ञाणे पाउणदि जं मुणी णियमा' द्रव्यसंग्रह। भगवान आत्मा अपने पूर्ण आनन्दस्वरूप की दृष्टि ध्यान में और अन्दर ज्ञानरूपी ध्यान में और लीनता भी अन्दर ध्यान में उत्पन्न होती है। साथ ही विकल्प बाकी रहता है, उसे व्यवहार कहा जाता है। (मोक्षमार्ग) ध्यान में उत्पन्न होता है, बाहर से विकल्प से निश्चय उत्पन्न नहीं होता। अन्दर भगवान आत्मा... मोक्षमार्ग की उत्पत्ति ध्यान में से उत्पन्न होती है। समझ में आया? ओहो...हो...! आचार्यों ने तो चारों ओर..., कोई भी शास्त्र लो, ऐसी ही बात की है। स्पष्ट वीतरागमार्ग मोक्षमार्ग है - ऐसा ढिढोरा पीटा है, ढिढोरा पीटा है। भाई! रागमार्ग, यह मार्ग आत्मा का नहीं, प्रभु! आत्मा वीतरागस्वरूप है न! उसकी श्रद्धा, ज्ञान और निर्विकल्प अनुभव करो, वही मोक्ष का मार्ग है। यह छियासी (गाथा पूरी) हुई। अब, ८७।

श्री वीर निर्वाणकल्याणक दिन

अनंत चतुष्टयप्राप्त शासननायक श्री महावीरस्वामी के निर्वाणकल्याणक के पवित्र अवसर पर उनको चरणों में कोटि कोटि सादर वंदन। उनकी पवित्र आराधना को लक्ष्य में लेकर नूतन वर्ष में हम सब स्वलक्ष्य से आत्मजागृति सहित आत्महित साधे, ऐसी भावना के साथ स्वानुभूतिप्रकाश के सभी पाठकवर्ग को नूतन वर्ष की शुभकामना।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-२५०, २५१ पर
भाववाही प्रवचन, दि. २४-५-१९८३,
प्रवचन क्रमांक-१०९ (विषय :
मार्गदर्शन)

पुण्य-पुण्य करके अज्ञानी पुण्यकी मीठासका
आस्वादन करता है परन्तु पुण्यकी मिठास तो उसका
खून करती है। मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है।
मिथ्यात्वका पाप सात व्यसनसे भी अनन्तगुणा (भयंकर)
है, उसका पोषण करनेवाले तो कसाईखाने खोलते हैं।
२५०.

(२१:२० मिनट से)

कहते हैं कि 'मिथ्यात्वका पाप सात व्यसनसे भी अनन्तगुणा (भयंकर) है,...' सातमें से एक व्यसन हो तो भी उसकी निंदा की जाती है। सातमें से एक व्यक्ति जुआ (खेलता है)। सातमें से जुआ एक व्यसन है। व्यसन यानि लत। अर्थात् वह वृत्ति बार-बार ऐसी प्रकृति बलपूर्वक आती है कि उसे जुआ खेले बिना चैन नहीं पड़ती। फिर लोग निंदा करे कि भाई, वह तो जुआरी है। जुआरी मनुष्य है यानि पापी जीव है। इस प्रकार उसकी निंदा की जाती है। भाई! कहते हैं कि यह मिथ्यात्व का पाप तो सात व्यसन से भी अनन्तगुणा है। ठीक! उसकी जितनी वास्तविकता से उसकी स्थिति समझनी चाहिये, वह समझ में न आये तब तक उससे हटने का, उसे मिटाने का उद्यम भी जागृत नहीं होता। जो प्रयत्न विशेष होना चाहिये, खास प्रयत्न होना चाहिये वह प्रयत्न उसे उसकी भयंकरता भासित नहीं होती और वीतरागी धर्म की किमत उसे भासित नहीं होती, इससे

दुःख कितना और इससे सुख कितना? यह अनिष्ट कितना और यह इष्ट कितना? यह तुलना जब तक नहीं होती तब तक किसी भी प्रकार से उसका प्रयत्न है वह योग्य स्थान में योग्य दिशा पकड़ता नहीं। यह परिस्थिति है—वास्तविक परिस्थिति है यह।

इसलिये ऐसा कहते हैं, 'मिथ्यात्वका पाप सात व्यसनसे भी अनन्तगुणा (भयंकर) है,...' बहुत बड़ा है ऐसा नहीं, अनन्तगुणा है ऐसा कहते हैं। एकगुणा, दो गुणा, डबल है, चार गुणा है, दस गुणा है, सौ गुणा है, हजार गुणा है, ऐसा नहीं। लाख-करोड़ संख्या से बाहर जाता है। असंख्यात से भी बाहर जाता है। अनन्तगुणा है। क्योंकि अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनंतानुबंधी के जो परिणाम होते हैं और अनंतानुबंधी का जो बंध होता है उसकी भयंकरता ऐसी भयंकरता है कि उसका यदि चलचित्र—यह सिनेमा दिखाते हैं न, वह दिखायी जाये तो स्वप्न में कोई उसकी इच्छा न करे। ये अस्पताल में जाये, सब वॉर्ड में चक्कर

मारे तो मालूम पड़े कि इस मनुष्यप्राणी को भी अशाता के प्रकार और कितनी वेदना के प्रकार है। बड़ा अच्छा अस्पताल बनाया हो उसमें चक्कर लगाये तो मालूम पड़े ऐसा है। किस तरह हाथ-पैर टूटते हैं और कैसे-कैसे ऑपरेशन होते हैं। जन्म-मरण के दुःख तो उससे भी अधिक है। यह तो उससे सामान्य है परन्तु जन्म के समय का दुःख और मृत्यु के समय का दुःख तो उससे ज्यादा है और वह तो मनुष्यप्राणी के।

तिर्यच के दुःख का पार नहीं है। तृषा लगे और पानी मिले नहीं, भूख लगे और आहार मिले नहीं। न मिले इतना ही नहीं, मारण, तारण, छेदन, भेदन अनेक प्रकार से कुचला जाना, कूट-कूट कर प्राणों का नाश होना। ये चिंउँटी देखो न। चलते-फिरते पैर पड़ जाये, कैसी दशा होती है? इत्यादि प्रकार से देखे तो वह स्वप्न में (इच्छा करे नहीं)। मिथ्यात्व के कारण यह सब खड़ा है। इतनी जो परंपरा है वह मिथ्यात्व के कारण है, उसका जो मूल है वह मिथ्यात्व है और उस गाँठ का जब तक छेद न हो जाये, तब तक उसमें से पुण्य-पाप के अंकुर फूटते ही रहते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम को छेदने का उपाय, मिथ्यात्व का अभाव करके वीतरागी धर्म प्रगट करना, वह एक ही उपाय है और पूरे प्रयत्न से जिस प्रकार से वह धर्म करने के लिये जिस-जिस प्रकार से बोध, उपदेश, सूचना, मार्गदर्शन जिन शब्दों में कहे, आज्ञा की गई है उस आज्ञा को शीरसाबंध शिरोधार्य न की जाये तब तक किसी भी प्रकार से उसका आराधन एवं आदर नहीं हो सकता।

वह अनन्तगुणा मिथ्यात्व का पाप है। 'उसका पोषण करनेवाले,...' मिथ्यात्व का पोषण करते हैं वह 'कसाईखाने खोलते हैं।' उसने एक कसाईखाना शुरू नहीं किया है, उसने अनेक कसाईखाना खोला है। पुण्य से और पुण्य के फल से जो सुख का

अभिप्राय है, सुख की जो श्रद्धा है वह उसे कसाईखाना शुरू करवायेगी। जिसने कसाईखाना शुरू किया है उसने क्या सोचा है कि इससे मुझे अनुकूल संयोगों की वृद्धि होती है, प्राप्ति होती है और वृद्धि होती है इसलिये यह करने जैसा है। सिद्धांत तो एकसमान हो गया। प्रवृत्ति में विशेषता हो गई। क्यों हो गई? कि अन्दर में जो सिद्धांत ग्रहण किया था और अभिप्राय हो गया था इस कारण से यह सब होने लगा। उसमें फिर उसे इतना पाप करने का फल क्या, उसका विवेक नहीं रहता।

जैसे मिथ्यात्व का फल निगोद है। यह तो समझ सकते हैं इसलिये दृष्टांत देते हैं। परन्तु वास्तव में तो मिथ्यात्व का फल निगोद में रहना वह है। कितने काल जीव निगोद में रहता है? कि अनन्त काल निगोद में रहता है। वह मिथ्यात्व के फल में जाता है। सात व्यसन के पाप के फल में तो जीव नर्क में जाता है। हमारे जैन में तो कितनों को यह भी मालूम नहीं है कि निगोद का दुःख ज्यादा है या नर्क का दुःख ज्यादा है? बाहर में वह प्रतिकूलता का दिखाव स्पष्ट दिखने में आये ऐसे हैं न, इन्द्रियज्ञान से समझ में आये ऐसे नर्क के दुःख के। इसलिये जीव ऐसा मानता है कि नर्क में ज्यादा दुःख है। नर्क से तो अनन्तगुणा दुःख तो निगोद में है। प्रचुर कषायकलंक के परिणाम है वहाँ एक श्वासोश्वास में १८ बार जन्म-मरण हो इतने कम आयुष्य में वह अनन्त काल पर्यंत निगोद में ही जन्म-मरण हो ऐसे आयुष्य को बाँधता है। यानि कि ऐसे परिणाम करता है।

निगोद में ही जन्मे, निगोद में ही मरे, निगोद में ही जन्मे और निगोद में ही मरे ऐसे ही वह निगोद के भाव करता है। और उस भाव से छूटने के लिये उसके पारस कोई बुद्धि, विवेक, ..उसे कोई अवकाश नहीं रहता इसलिये अनन्त.. अनन्त.. अनन्त काल उसमें वह जीव व्यतीत करता है। छद्मस्थ का तो काल कम

है, बहुत अल्प काल है। ज्यादा से ज्यादा दो हजार सागर वह तो उत्कृष्ट काल है।

... ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, ऐसा मिथ्यात्व का मूल बहुत गहरा जाता है और वह मिथ्यात्व भयंकर से भयंकर (है)। इस विश्व में यदि कोई भयंकर हो तो वह मिथ्यात्व ही है ऐसा उसे समझ में आ जाना चाहिये। तो वह किसी भी प्रकार से उसका त्याग करने का, अभाव करने का प्रयत्न करे, अन्य सब काम छोड़कर। अथवा छोड़कर यानि गौण करके कि दूसरा जो होना होगा सो होगा, यह कार्य तो मुझे करना, करना और करना ही है।

अतः मिथ्यात्व का पोषण हो उस दिशा में तो अत्यंत-अत्यंत सावधानी रहनी चाहिये ऐसा कहना है। मिथ्यात्व का पोषण हो उस दिशा में तो अत्यंत-अत्यंत सावधानी रहनी चाहिये। अगृहीत मिथ्यात्व अनादि से चालू है। मनुष्यपर्याय में आकर गृहीत मिथ्यात्व का प्रसंग उत्पन्न होता है और वह धर्म के बहाने एवं धर्म के निमित्त से होता है। इसलिये उस विषय में गुरुदेवश्री ने अनंत करुणा करके इस बात को स्पष्ट की है। ये पुण्य-पुण्य करके जीव मीठास का वेदन करता है न? वह पुण्य करता है उसमें पुण्यतत्त्व को बुद्धिपूर्वक जे कल्याण का कारण मानता है, मोक्ष का कारण मानता है, आत्मा के हित का कारण मानता है वह गृहीत होता है।

अन्यमत में और दूसरे फेरफार में तो गृहीत मिथ्यात्व हो ही जाता है। जैनदर्शन में भी अन्य फेरफेरा करे तो गृहीत मिथ्यात्व हो जाता है। अन्य मत में स्थूल गृहीत मिथ्यात्व है। परन्तु कहलाने वाले जैनदर्शन में वह रहे और सनातन जो मार्ग चला आ रहा है उसमें फेरफार करे तो भी उसे गृहीत मिथ्यादर्शन का प्रसंग उत्पन्न हो जाता है। ऐसा विषय है। गृहीत यानि स्थूल मिथ्यात्व हो गया, वहाँ तीव्र मिथ्यात्व हो गया। यहाँ

तो अगृहीत छूटकर मोक्षमार्ग में आये वह प्रकार उसे ग्रहण करना चाहिये। इतनी हद तक आने की बात है।

मुमुक्षु :— गृहीत मिथ्यात्व का...

पूज्य भाईश्री :— दोष में गृहीत मिथ्यात्व है वह मिथ्यात्व की तीव्रता में आगे बढ़ा है। मिथ्यात्व दोनों में समान है परन्तु तीव्र मिथ्यात्व के कारण उसे सम्यग्दर्शन में होने में ज्यादा दूर हुआ है। इतना अंतर है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में वह ज्यादा दूर चला गया है ऐसा कहना चाहिये। ऐसा है। अथवा सत्य स्वरूप से वह अधिक दूर हो गया है। असत्य को ज्यादा दृढ़ करने में उसके श्रद्धा के परिणाम काम करते हैं। असत्य को दृढ़ करने के लिये। ऐसी बात है।

मुमुक्षु :— गृहीत पर वज्रन...

पूज्य भाईश्री :— हाँ, समझ में भी बहुत सावधानी रखने का विषय है। बुद्धि से अल्प भी फेरफार युक्त समझे तो गृहीत में चला जाता है। इसीलिये तो आनंदघनजी ने एक पद गाया है उसमें वह बात ली है कि धार तरवारनी सोह्यली दोह्यली, चौदमा जिनतणी चरणसेवा। इसमें तो चौदहवें जिन की स्तुति की है। चौदहवें जिन का नाम क्या है? धर्मनाथ?

मुमुक्षु :— अनंतनाथ।

पूज्य भाईश्री :— अनंतनाथ है। चौदहवें जिन अनंतनाथ हैं। अनंतनाथ भगवान की स्तुति करते हुए यह बात कही है। वह तो एक प्रास बैठाने के लिये। बाकी सर्व तीर्थकरों ने एक ही बात कही है। पहले किसी दूसरे ने कोई अन्य बात कही है और चौदहवें ने दूसरी बात कही है और चौबीसवें ने दूसरी बात कही है ऐसा तो है नहीं। एक ही मार्ग पर चले हैं और एक ही मार्ग की बात कही है। परन्तु ऐसा कहते हैं कि यह बात इतनी आसान नहीं है। अल्प भी फेरफार करने जाये यानि की एक आत्मा में श्रद्धा से, ज्ञान से और आचरण से आने का प्रयास न करे तो बाहर चला

जायेगा। अनात्म तत्त्व पर उसका वजन जायेगा। वह अनात्म तत्त्व पर बुद्धिपूर्वक गया इसलिये गृहीत कह दिया। समझकर चला इसलिये उसे गृहीत कह दिया। ऐसा कहते हैं। अज्ञानता से चला वह अगृहीत है और समझकर चले वह गृहीत है। उसे बुद्धि को योग्य प्रकार से लगाना जरूरी था, जब उसे बुद्धि लगाने का मौका मिला है तब। इतनी बात है।

मुमुक्षु :— ...

पूज्य भाईश्री :— मिथ्यात्व धर्म के कार्य नहीं करता है, पुण्य के कार्य करता है। मिथ्यात्वी को धर्म नहीं होने से वह धर्म के कार्य कदापि नहीं करता, कर नहीं सकता। पुण्य के जो कार्य हैं... अब जिसे स्वयं के पुण्य परिणाम से हटना है, स्वयं के पुण्य परिणाम को छेदकर जो वीतरागी धर्म में आना चाहता है वह, दूसरे के पुण्य परिणाम का अनुमोदन कैसे करे? कि उसे अनुमोदन करने का प्रश्न नहीं रहता। ऐसी बात है। जो स्वयं न करे, वह अन्य से करवाये या अनुमोदन करे वह बात कहाँ रही?

उसे ऐसा कहते हैं कि भाई! आप ये जो कोई प्रशस्त कार्य करते हो, शुभ कार्य करते हो अथवा प्रशस्त कार्य करते हो तो वह प्रशस्त कार्य पुण्यबंध

का कारण है ऐसा जानना और उसे आप कभी धर्म मत मानना। अन्यथा आप मिथ्यात्व में, गृहीत मिथ्यात्व फँस जाओगे। ऐसी उसे स्पष्ट समझ दे। परन्तु उसे धर्म मानकर, मनवाकर या अनुमोदना करके उस प्रकार से प्रवृत्ति करे नहीं। ऐसा है।

मुमुक्षु :— एकदम मिलावट।

पूज्य भाईश्री :— मिलावट है उसीका नाम है सब गड़बड़ है। नाम जैनदर्शन और अन्दर मिलावट। शुद्ध घी के व्यापार में वेजीटेबल मिश्र कर दे, उसके बजाय वेजीटेबल स्पष्ट लिखकर बैठा हो तो वह अच्छा है कि दूसरों को ठगता तो नहीं कि भाई समझकर आता है यहाँ। मिलावट का काम करे वह तो कुछ योग्य नहीं है। चोर है वह सराफ की दुकान का बोर्ड लगाकर बैठे और लोग ठगा जाये, यह तो गलत ही है न। ऐसे भगवान का अरिहंत का, वीतरागदेव का, जिनेन्द्रदेव का, तीर्थकर का नाम लेना और तीर्थकर ने कहा उस मार्ग से विपरीत चलना, स्वयं ठगा जाना और दूसरों को ठगने में अग्रेसर होना, मुख्यता करनी वह तो आत्मा को बहुत नुकसान का कारण है। वह २५० पूरा हुआ।

पर्याय-दृष्टि वाले जीव दया-दान, पूजा-भक्ति, यात्रा, प्रभावना आदि अनेक प्रकारके शुभभावोंके कर्ता होकर, अन्यकी अपेक्षा 'में कुछ अधिक हूँ' ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्व भावको दृढ़ करते हैं और निश्चय स्वरूप मोक्ष-मार्गको लेशमात्र भी नहीं जानते।

२५१.

२५१. 'पर्याय-दृष्टि वाले जीव दया-दान, पूजा-भक्ति, यात्रा, प्रभावना आदि अनेक प्रकारके शुभभावोंके कर्ता होकर, अन्यकी अपेक्षा 'में कुछ अधिक हूँ' ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्व भावको दृढ़ करते हैं और निश्चय

स्वरूप मोक्ष-मार्गको लेशमात्र भी नहीं जानते।' नब्ज पकड़ी है। धर्म के क्षेत्र में जीव मिथ्यात्वभाव को किस प्रकार दृढ़ करता है यह कहते हैं। मनुष्य को ऐसा होता है कि ऐसा सब न करे तो फिर अब हमें करना क्या? यदि दया, दान, पूजा, भक्ति, यात्रा और प्रभावना

न करे तो हमें करना क्या? कि भाई! तुझे स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के परिणामरूप परिणामन करना, अन्दर में वीतरागी धर्म के परिणामरूप परिणामना, यह करने जैसा है, यह कर्तव्य है। अन्य कुछ करने जैसा है यह बात है नहीं। बाहर में दूसरे परिणाम ऐसे हों मोक्षमार्ग में तो भी मोक्षमार्गी जीवों ने उसका अभाव करके सिद्धालय में पहुँचने का प्रयत्न करके पहुँचे हैं। ऐसा है कि नहीं?

जो सिद्ध परमात्मा करते हैं वह तुझे करना। सिद्ध परमात्मा जो करते हैं वह तुझे करना। भगवान करते हैं वह तुझे करना कि भगवान नहीं करते हैं वह तुझे करना है? सिद्ध परमात्मा दया, दान, पूजा, भक्ति, यात्रा और प्रभावना करते हैं? कि नहीं करते। पहले करते थे? हाँ, पहले करते थे। वह करते-करते उन्होंने बढ़ाया या कम किया? छोड़ा। बस, तो तू अभी करता है तो तू भी उसे छोड़ दे। छोड़ दे यानि तेरे वीतराग धर्म में तू लीन हो, वीतरागी आत्मा में लीन हो, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं।

‘पर्यायदृष्टि वाले जीव...’ पर्यायदृष्टि कहो या मिथ्यादृष्टि कहो। पर्यायदृष्टि में जीव को जिस समय जो-जो उदयिकभाव की पर्याय होती है वैसा, उतना मैं हूँ, ऐसा स्वयं को उस उदयभावरूप यानि रागादि भावरूप यानि कि सकषाय परिणामरूप ऐसा मैं हूँ, ऐसे स्वयं को स्थापित करता है, उसको पर्यायदृष्टि कहने में आया है। अथवा, वह क्षण-क्षण की पर्याय ली, परन्तु चार गति में जिस पर्याय में जन्म हुआ वैसा हूँ, वह भी पर्यायदृष्टि है। वर्तमान में मैं मनुष्य हूँ, उसमें मनुष्य हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ, सेठ हूँ, पण्डित हूँ, मूर्ख हूँ, गृहस्थी हूँ, त्यागी हूँ। ऐसे जितने भी उदयिकभावरूप स्थिति के परिणाम है वैसा मैं हूँ, वह सब पर्यायदृष्टि में जाता है। उसे पर्यायदृष्टि कहो या मिथ्यादृष्टि कहो, सब एकार्थ है।

ऐसा ‘जीव दया-दान,...’ के परिणाम करे तब उसका कर्ता होता है। पूजा-भक्ति के परिणाम हो तब उसका कर्ता होता है। ‘यात्रा, प्रभावना आदि अनेक प्रकार के...’ शुभभाव हो, उन शुभभावों का कर्ता होता है। कर्ता होता है यानि क्या? अभेद बुद्धि से उसे मैं करता हूँ, ऐसा वह अनुभव करता है कि मैंने पूजा की, मैंने भक्ति की, मैंने दया पाली और मैंने दान दिया। ऐसे शुभराग के परिणाम में अभेदभाव से यानि कि पूरे ममत्व से, अभेदभाव से यानि पूरे ममत्व से वह परिणामता है। तब उसे कर्ता हुआ ऐसा अनुभव होता है कि यह मैंने किया, वह मेरा कार्य, वह मेरा इष्ट कार्य। कर्ता का इष्ट सो कर्म। यह मेरा इष्ट कार्य। इष्ट यानि भला होने योग्य कार्य और उसका मैं करने वाला। कर्ता-कर्म, अभेद तत्त्व में होता है। भिन्न-भिन्न तत्त्व में कर्ता-कर्म की परिस्थिति नहीं है।

अब, यह जो शुभभाव के परिणाम है वह अन्य तत्त्व होने पर भी उसका कर्ता होता है उसका अर्थ यह है कि उसमें अभेद बुद्धि करके अभेदता से परिणामता है। पूरे ममत्व से परिणामता है। और उस परिणाम में ऐसे ममत्व युक्त परिणाम करके ऊलटा उस पर मानो धजा चढाता है, देखो, हमारा ध्वज लहरा रहा है, इस प्रकार अहंकार का ध्वज लहराता है। फिर कहे, दूसरे नहीं करते ऐसा मैं करता हूँ, दूसरे लोग इतना दान नहीं देते उससे ज्यादा मैं देता हूँ वह प्रमाण में अधिक है। दूसरे लोग स्वाध्याय करने नहीं आते हैं, मैं तो प्रतिदिन स्वाध्याय करने आता हूँ। ठीक! अहंकार की धजा बाँधता है, ध्वजा लहराता है। एक तो पुण्य के परिणाम में कर्ता होकर ममत्व करता है और उसके ऊपर अधिकता करता है कि दूसरे से मैं अच्छा, ऐसी अधिकाई करता है।

‘अन्यकी अपेक्षा ‘में कुछ अधिक हूँ’ ऐसा अहंकार करते हुए...’ ममत्व और अहंपना

एवं ममपना दोनों करता है। वह जीव मिथ्यात्वभाव करता है उतना ही नहीं 'दृढ़ करते हैं...' लो, ठीक! लेकिन रोज़ाना स्वाध्याय करने आता है और मिथ्यात्व को दृढ़ करता है? हाँ, स्वाध्याय करने आये और विपरीत बुद्धि करके मिथ्यात्व को दृढ़ करता है, गृहीत करे और गृहीत को भी वह दृढ़ करता है। लेकिन अब जाना कहाँ? जाना आत्मा में। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय है नहीं।

इतना एक अत्यंत स्पष्ट खयाल करने जैसा है इस विषय में यह है कि जितने भी बहिर्मुख परिणाम हैं, जितने भी बहिर्मुख भाव हैं वह आत्मा के अंतःतत्त्व स्वरूप से, ऊलटी दिशा के परिणाम होने से वह, कर्तव्य है यह बात धर्म के प्रकरण में नहीं है। आत्मा कि जो अंतःतत्त्वस्वरूप है, परमात्मतत्त्व है, साक्षात् सिद्धपद है वह अंतर्मुख परिणाम द्वारा अनुभव में आता है और इसीलिये एकान्त अंतर्मुख परिणाम करने का आदेश एवं उपदेश है। वह अंतर्मुखता छोड़कर जितना भी बाह्य परिणामन है, बहिर्मुख भाव है वह त्याज्य है अथवा कर्तव्य नहीं है। इतनी बात बिल्कुल स्पष्ट है।

दो दिशा है—अंतर्मुख और बहिर्मुख की। उसमें अंतर्मुख दिशा में ही मुड़ना, आगे बढ़ना, विकास करना, पूर्ण होना। बहिर्मुखता छोड़नी। एकसाथ न छूटे तो क्रमशः भी छोड़नी, परन्तु श्रद्धा-ज्ञान में यह बात स्पष्ट है कि करने जैसा नहीं है। जो त्यागने योग्य है वह करने योग्य नहीं है। ऐसा।

इसलिये ऐसा कहते हैं कि 'ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्व भावको दृढ़ करते हैं और निश्चयस्वरूप मोक्ष-मार्ग को...' निश्चयस्वरूप मोक्षमार्ग यानि अंतर्मुख जो मोक्षमार्ग अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप जो मोक्षमार्ग है उसे 'लेशमात्र भी नहीं जानते।' उसका उसे बिल्कुल अज्ञान वर्तता है ऐसा कहना है। जो जीव बाह्य परिणाम में अथवा शुभ

परिणाम होने के काल में कर्ता होकर परिणमता है, वह जीव मोक्षमार्ग को जानता भी नहीं, पहचानता भी नहीं।

कोई ऐसा कहते हैं कि दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि के परिणाम तो मोक्षमार्गी जीव को देखने में आते हैं। मोक्षमार्गी जीव भी ऐसे परिणाम करता है ऐसा दिखता है। हम भी ऐसे परिणाम करते हैं। कहते हैं कि उन दोनों प्रकार के शुभभाव में बहुत बड़ा अंतर है। मिथ्यादृष्टि जीव कर्ता होकर करता है। और धर्मी को मोक्षमार्गी जीव को वह परिणाम अकर्ता भाव से होते हैं। करता है, ऐसी बात उसको लागू नहीं पड़ती। करने का अभिप्राय नहीं है फिर भी परिपूर्ण वीतरागता प्राप्त नहीं होने से पुरुषार्थ की कचास के कारण अस्थिरता उत्पन्न होने से उस अस्थिरता में वह हेयबुद्धि से हो जाते हैं। करना है, यह प्रकार उसको नहीं है। हो जाते हैं।

एक व्यक्ति को सज़ा दो तो वह सज़ा को जबरजस्ती भोगता है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि उसे वह सज़ा भोगने का उत्साह और रस है। ऐसा नहीं ले सकते। इस प्रकार जिसने निज पूर्ण वीतरागस्वरूप की श्रद्धा की है, निज पूर्ण वीतरागस्वरूप को जाना है और वह निज परिपूर्ण वीतरागस्वरूप ही जिसे उपादेय है, एकान्त उपादेय है उसे उस वीतरागस्वरूप से विरुद्ध ऐसे रागादि भाव उपादेय है यह बात तो नहीं रहती। फिर भी उसे होते हैं। होते हैं, वह मोक्षमार्ग में खड़ा है, मोक्षमार्ग को वह जानता है। उसे मोक्षमार्ग का अज्ञान है ऐसा नहीं कह सकते। परन्तु जो पर्यायदृष्टि से कर्ता होकर परिणमता है और ऊलटा उस पर तुरा लगाता है, उसका अभिमान करता है कि नहीं, यह तो मैंने अन्य नहीं करते उससे भी बहुत अच्छा किया है। ऐसे जीव को तो मिथ्यात्व दृढ़ होता है। मिथ्यात्व दृढ़ होता है उतना ही नहीं, भले ही पूरा जगत उसको धर्मी जीव है, ऐसा कहता हो कि यह

बहुत धर्म करता है, बहुत धर्म करता है। इतने धर्म के परिणाम करता है कि वाह! ज्ञानी कहते हैं कि वह धर्म के मार्ग को, धर्म को, मोक्षमार्ग को यानि धर्म को जानता तक नहीं, लेशमात्र जानता नहीं। उतना वह धर्म-मार्ग से अनजान है, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं। यह इसका रहस्य है। लोग धर्मी-धर्मी कहकर कहने लगे, यानि बेचारा मर जायेगा।

एक तो क्या है कि स्वयं को अन्दर में अभिमान के परिणाम हो जाते हो कि मैंने यह किया। अन्य नहीं करते हैं ऐसा मैंने किया। ऐसे में दूसरे प्रशंसा करे, कोई अन्य प्रशंसा करे। अतः उसको तो जो रस उत्पन्न होता हो वह रस बढ़ने का निमित्त बन जाता है। अन्य उसे कहीं करवाते नहीं है, किन्तु एक तो उसकी योग्यता हीन है, ऐसे में बाह्य निमित्त भी उसको उस ही प्रकार के मिलते हैं, इसलिये वह तीव्र अभिमान में एवं अहंकार में आता है और मोक्षमार्ग से उलटा दूर हो जाता है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि वह मोक्षमार्ग को करता नहीं, आदर नहीं करता, आराधत नहीं करता, उलटा मोक्षमार्ग का उसे बिल्कुल ज्ञान भी नहीं है ऐसा कहते हैं। उसे मोक्षमार्ग का ज्ञान होने का निषेध है। ठीक! लेकिन इतने सारे शास्त्र पढ़कर समझा सकता है तो भी? कि उस शास्त्र के निमित्त से शुभ भाव हो, उस शुभ भाव में उसे अहंकार हो, तो कहते हैं कि वह मोक्षमार्ग को लेशमात्र समझा नहीं है, जानता नहीं है, वह पहचानता नहीं है, उसका उसे ज्ञान नहीं है। ऐसा लेते हैं। अभी अनजान है। जो साक्षात् मोक्षमार्ग है, उस मार्ग में अंतर्मुख कैसे हुआ जाये उससे, वह बिल्कुल अनजान है। इसलिये वह, अंतर्मुख से विरुद्ध ऐसा जो बहिर्मुखपना उसमें वेग से एवं रस से आगे बढ़ गया है ऐसा कहना चाहते हैं।

इस प्रकार से यहाँ बहिर्भावों का निषेध है और अंतर्मुख भावों का आदर करने की यहाँ सूचना की है। यहाँ तक रखते हैं...

करुणासागर पूज्य भाईश्री 'शशीभाई' के ८९वें जन्म-जयंती महोत्सव पर धार्मिक कार्यक्रम

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री शशीभाई का आगामी ८९वीं जन्म जयंती महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी-४, दि. ७-१२-२०२१ से मार्गशीर्ष सुदी-८, दि. ११-१२-२०२१ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ऑडियो एवं विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री के विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की तत्त्वचर्चा, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेंगे और दि. १०-१२-२०२१ के दिन पुलिस मंजूरी मिलने पर ही जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु निम्न लिखित पते पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

संपर्क एवं कार्यक्रम स्थल :- श्री शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर, प्लोट नं. १९४२-बी, शशीप्रभु चोक, रूपाणी सर्कल के पास, भावनगर-३६४००१

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. ११-B



सब जगह आत्मा का ध्येय रखना। चाहे जो क्षेत्र में हो, चाहे कहीं भी हो, आत्मा का ध्येय रखना। मांगलिक के लिये कहते हैं न?

चत्तारी मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारी लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारी शरणं पवजामी, अरिहंता शरणं पवजामि, सिद्धा शरणं पवजामि, साहू शरणं पवजामि, केवलि पण्णत्तो धम्मो शरणं पवजामी।

चार शरण, चार मंगल, चार उत्तम करे जे, भवसागर तरे ते सकळ कर्मनो आणे अन्त, मोक्ष तणा सुख ले अनन्त, भाव धरीने जे गुण गाये ते जीव तरीने मुक्ति जाय, संसारमांही शरण चार, अवर शरण नहीं कोई, जे नर-नारी आदरे तेने अक्षय अविचळ पद होय, अंगूठे अमृत वरसे, लब्धि तणा भण्डार, गुरु गौतमने समरीए तो सदाय मनवांछित फलदातार। रहने का बहुत दूर हो गया इसलिये..

मुमुक्षु :- माताजी! भावसे आपके समीप ही वर्तते है, परन्तु प्रारब्ध योग ऐसा है कि..

समाधान :- कोई नहीं है, विभावदेश अपना नहीं है, कोई अपना नहीं है। अपना अपने में बसता है।

मुमुक्षु :- वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का शरण तो चाहिये न, माताजी! पुरुषार्थ के साथ-साथ..

समाधान :- वह तो साथ में ही होता है। उसके हृदयमेंस जाते नहीं। बाह्य संयोग .. परन्तु उसे भावना तो यही रहती है कि मुझे देव-गुरु-शास्त्र का साथ कैसे मिले, मुझे उनके दर्शन कैसे हो, उनकी वाणी कैसे मिले, ऐसा भावना तो स्वयं को रहती ही है। अन्तर में तो उनका आश्रय वह लेता ही है, बाह्य संयोग नहीं हो तो उसे भावना रहती है कि मुझे भगवान के दर्शन कब हो, गुरु के, गुरु की वाणी के, उस तीर्थ भूमि के ऐसी भावना तो रहती ही है।

जहाँ संत, गुरु और तीर्थकर विचरे हों वह भूमि तीर्थस्वरूप है। भावना तो अन्दर रहती है। उनका साथ अन्दर में होता है, स्वयं अन्दर आगे जाये तब। उपादान में करना तो स्वयं को है, परन्तु अन्दर में उसे भावना तो रहती ही है।

मुमुक्षु :- आपने एक बार कहा था, हम अपने आप करेंगे, पुरुषार्थ करेंगे, लेकिन आपके बिना हमें नहीं चलेगा।

समाधान :- आपके बिना हमें नहीं चलेगा, हमें आपका साथ चाहिये। पद्मनंदी आचार्य कहते हैं, मुझे इस पृथ्वी का राज्य भी नहीं चाहिये। तीन लोक का राज्य मिले वह (भी नहीं चाहिये)। वह सब तुच्छ है। एक गुरु की वाणीने हमारे हृदय में जमी है उसके आगे सब तुच्छ है। पद्मनंदी आचार्य कहते हैं।

गुरुदेवने तो बरसों तक वाणी बरसायी। अन्तर में परिणति में सभी को दृढ़ परिणति हो जाये उतनी वाणी बरसायी है। दृढ़तासे इतनी ठोसरूपसे (जमी है), गुरुदेवने बरसायी परन्तु अन्दर ग्रहण करना स्वयं के पुरुषार्थ की बात है।

मुमुक्षु :- गुरुदेवने ४५ साल बरसायी और अब आप के द्वारा सोगनद में अविरतरूपसे वर्तती ही है। मुमुक्षुओं के अहोभाग्य है, आपकी अमृतमय वाणी और ज्ञानगंगा निरंतर चालू ही है।

समाधान :- गुरुदेव का तो धोध बरसता था। मैं तो थोड़ा कहती हूँ।

मुमुक्षु :- .. एकदम जागकर शोरगुल हो गया, आदमी लोग भाग गये, .. रास्ते पर सब दौड़े लेकिन कोई पकड़ा नहीं गया। गुरुदेव के तो वे एक अंगरक्षक ही थे।

समाधान :- कोई कुछ नहीं कर सकता।

मुमुक्षु :- गुरुदेव के पुण्य थे और भक्तों की.. सब की उतनी तैयारी..

समाधान :- उतनी तैयारी। चारों ओर होशियारीसे देखते थे कि क्या होता है, उतनी तैयारी।

मुमुक्षु :- आपके उपसर्ग वक्त आपके भक्त भी उतने ही भक्तिभावसे तैयार.. ऐसी हम अन्दरसे भावना भाते हैं।

मुमुक्षु :- बड़ों का शरण ले तो कदाचित् दोष लगे तो भी दोष नहीं लगता है, ऐसा वांचन में सुना है।

समाधान :- देव और गुरु का आश्रय लिया तो विभाव में तो पड़ा ही है, तो तुझसे दोष होवे तो बड़े के आश्रयसे वह सब दोष टल जायेंगे। मोटाने उत्संग बेठाने शी चिंता? गुरु का आश्रय लिया। वे आत्मा का स्वरूप समझाते हैं और तुझे समझने का ध्येय है तो बीच में विभाव है, लेकिन वह दोष काम नहीं करेगा। वह दोष टल जायेगा। दोष लगे अर्थात् तेरा दोष टल जायेगा, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ... चाहे लंदन में रहे या चाहे कहीं भी रहे, ध्रुव का शरण लिया..

समाधान :- वह तो अन्दर थोड़ा बचाव होता है।

मुमुक्षु :- माताजी! आपकी बात सत्य है। एकदम सत्य बात आपने कही है।

समाधान :- आत्मार्थी को ऐसी भावना नहीं होती कि भले ही लंदन हो। भावना तो ऐसी होती है कि जहाँ देव-गुरु-शास्त्र हो वैसे क्षेत्र में मैं रहूँ, परन्तु मेरे संयोग ऐसे हैं कि मुझे वहाँ रहना पड़ता है। लंदन में रहना पड़ता है, ऐसा होना चाहिये। उस क्षेत्र में तीर्थकर का जन्म नहीं होता, उस क्षेत्र में मुनि विचरते नहीं, इस आर्यक्षेत्र में तीर्थकर जन्मे हैं, यहाँ अयोध्या भूमि तीर्थकरों की जन्मभूमि है। निर्वाण भूमि है। मुनि यहाँ विचरते हैं। सब यहाँ आर्य क्षेत्र में होता है। सन्त यहाँ जन्म धारण करते हैं, महात्मा यहाँ जन्म धारण करते हैं। वहाँ कुछ नहीं होता। यदि सब क्षेत्र समान हो तो महापुरुष और तीर्थकर वहाँ वैसे क्षेत्र में जन्म नहीं धारण करते। इसलिये मुमुक्षु को ऐसी भावना होनी चाहिये कि मेरा निवास आर्यक्षेत्र में होओ। अनार्य में मेरा निवास हो ऐसी भावना नहीं होनी चाहिये। मेरे संयोग ऐसे हैं कि मुझे यहाँ रहना पड़ता है। वह बात अलग है, लेकिन वैसी भावना तो होती ही नहीं।

मुमुक्षु :- .. ऐसे रहना चाहिये।

समाधान :- ऐसा लौकिक में आता है। मुनिओं की चारित्रदशा की साधना उस क्षेत्र में नहीं होती। भावलिंगी मुनि इस आर्य क्षेत्र में ही विचरते हैं। जो महात्मा आत्मा की साधना करनेवाले, तीर्थकर सब आर्य क्षेत्र में जन्म धारण करते हैं। वहाँ कोई महात्मा नहीं होते। फिर तो वैसे संयोग के कारण जाना पड़े वह अलग बात है। उसे खेद रहता है कि मुझे यहाँ रहना पड़ता है। देव-गुरु-शास्त्र का समागम हो वह तो महाभाग्य की बात है। मुझे अन्दर मार्ग मिले, सुलभता प्राप्त हो, अन्दर पुरुषार्थ की विशेष-विशेष दृढ़ता हो। यहाँ तो मुझे अपने आप ही करना पड़ता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने तक ठीक है, वहाँ आगे बढ़ना.. और सम्यग्दर्शन वर्तमान में इस क्षेत्र में दुर्लभ है, वहाँ भले भावना रहे,

कोई क्षेत्र रोकता नहीं है, परन्तु भावना तो स्वयं को आर्य क्षेत्र की होनी चाहिये। तीर्थकरों का देस है, तीर्थकरों की जन्मभूमि है, सबकुछ यहाँ है। इस ओर महापुरुष श्रीमद् जैसे, गुरुदेव जैसे यहाँ होते हैं।

मुमुक्षु :- आत्मा का गुजारा यहाँ चले ऐसा है, .. गुजारा लन्दन में..

माताजी! राजकुमार राजपाट छोड़कर दीक्षा लेने निकल पड़ते हैं तो उन्हें ऐसा कैसा आधार होता है कि उसके आधारसे सबकुछ छोड़कर निकल पड़ते हैं?

समाधान :- अंतर में उसे वैसा पुरुषार्थ जागृत होता है, वैराग्य होता है। लेकिन वह सम्यग्दर्शनपूर्वक है। ऐसा होता है कि मुझे आत्मा की साधना करनी है। गृहस्थाश्रम छोड़कर निकल पड़ते हैं। अन्दर भेदज्ञान हुआ है, सम्यग्दर्शन हुआ है परन्तु मुझे ओर आगे बढ़ना है। चारित्रदशा प्रगट करनी है। उन्हें आधार आत्मा का है। मन के अन्दर गुरु आदि सबका आश्रय तो होता है, परन्तु जंगल में जाते हैं तो आत्मा के आधारसे जाते हैं। शुभभाव बीच में आता है, शुभभावसे होता है ऐसा नहीं, परन्तु उसे आत्मा आश्रय (होता है)। परन्तु उसे उसका निषेध नहीं होता। देव-गुरु-शास्त्र का (आश्रय तो होता है)। स्वयं जंगल में निकल पड़ते हैं। जंगल में अकेले रहते हैं। चारित्रदशा की साधना करते हैं। किसीको ऐसी भावना होती है, जंगल में रहे, कोई भगवान के दर्शन करते हैं, कोई समवसरण में जाते हैं। भावना भिन्न-भिन्न होती है।

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन के बाद ऐसी भावना होती है?

समाधान :- सम्यग्दर्शन के बाद भावना (होती है), वास्तविक चारित्रदशा तो वही है न। पहले भावना हो और कोई मुनि हो जाये ओर बाद में सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा भी किसीको बनता है। कोई तो द्रव्यलिंगी होते हैं। किसीको सम्यग्दर्शन के बाद भी होता है और भावना में आये और निकल भी जाते हैं। ऐसा भी बनता है। बाद में हो तो वैसे निकल पड़ते हैं। लेकिन वास्तविक चारित्रदशा तो सम्यग्दर्शन के बाद ही कही जाती है।

(३०:०० मिनट तक)

२८३

ववाणिया, भादों वदी ३०, शुक्र, १९४७

परम पूज्य श्री सुभाग्य,
यहाँ हरिच्छानुसार प्रवृत्ति है।

भगवान मुक्ति देनेमें कृपण नहीं है, परंतु भक्ति देनेमें कृपण है, ऐसा लगता है। भगवानको ऐसा लोभ किसलिये होगा? वि. रायचंदके प्रणाम।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (नवम्बर-२०२१) का शुल्क श्री धर्मेन्द्रभाई न्यालचंदभाई वोरा, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

२८१

ववाणिया, भादों वदी १३, बुध, १९४७
कलियुग है इसलिये अधिक समय उपजीविकाका वियोग रहनेसे
यथायोग्य वृत्ति पूर्वापर नहीं रहती।

वि. रायचंदके यथायोग्य।

२८२

ववाणिया, भादों वदी १४, गुरु, १९४७

परम विश्राम सुभाग्य,

पत्र मिला। यहाँ भक्तिसम्बन्धी विद्वलता रहा करती है, और वैसा करने में हरीच्छा सुखदायक
ही मानता हूँ।

महात्मा व्यासजीको जैसा हुआ था, वैसा हमें आजकल हो रहा है। आत्मदर्शन प्राप्त करनेपर
भी व्यासजी आनन्दसंपन्न नहीं हुए थे, क्योंकि उन्होंने रहिरस अखंडरूपसे नहीं गाया था। हमारी भी
ऐसी ही दशा है। अखंड हरिरसका परम प्रेमसे अखण्ड अनुभव करना अभी कहाँसे आयेगा? और
जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक हमें जगतकी वस्तुका एक अणु भी अच्छा नहीं लगेगा।

भगवान व्यासजी जिस युगमें थे, वह युग दूसरा था; यह कलियुग है। इसमें हरिस्वरूप, हरिनाम
और हरिजन दृष्टिमें भी नहीं आते, श्रवणमें भी नहीं आते; और इन तीनोंमेंसे किसीकी स्मृति हो ऐसी
कोई भी वस्तु भी दिखायी नहीं देती। सभी साधन कलियुगसे घिर गये हैं। प्रायः सभी जीव उन्मार्गमें
प्रवृत्त हैं, अथवा सन्मार्गके सन्मुख प्रवर्तते हुए दिखायी नहीं देते। क्वचित् मुमुक्षु हैं, परंतु वे अभी
मार्गके निकट नहीं है।

निष्कपटता भी मनुष्योंमेंसे चली गयी लगती है। सन्मार्गका एक अंश और उसका शतांश भी किसीमें
भी दृष्टिगोचर नहीं होता; केवलज्ञानके मार्गका तो सर्वथा विसर्जन हो गया है। कौन जाने हरिकी इच्छा
भी क्या है? ऐसा विकट काल तो अभी ही देखा। सर्वथा मन्द पुण्यवाले प्राणी देखकर परम अनुकम्पा
आती है। हमें सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अनेक बार थोड़ा थोड़ा कहा
गया है, तथापि स्पष्ट शब्दोंमें कहा जानेसे स्मृतिमें अधिक रहेगा इसलिये कहते हैं कि किसीसे अर्थसम्बन्ध
और कामसम्बन्ध तो बहुत समयसे अच्छे ही नहीं लगते। आजकल धर्मसंबन्ध और मोक्षसंबन्ध भी अच्छे
नहीं लगते। धर्मसंबन्ध और मोक्षसंबन्ध तो प्रायः योगियोंको भी अच्छे लगते हैं; और हम तो उनसे
भी विरक्त रहना चाहते हैं। अभी तो हमें कुछ अच्छा नहीं लगता, और जो कुछ अच्छा लगता
है, उसका अतिशय वियोग है। अधिक क्या लिखे? सहन करना ही सुगम है।

(शेष अंश पृष्ठ-१८ पर)

